

अपना सन्नाटा

अंजना वर्मा

उस दिन संजीव ऑफिस से शाम को पांच बजे वापस आ गया। लिफ्ट से ऊपर उसने अपार्टमेंट की घंटी बजाई तो रोज़ की तरह दरवाज़ा खुला नहीं। वह खड़ा इंतज़ार करता रहा। फिर दूसरी और तीसरी बार भी बजाई, तो भी दरवाज़ा वैसे ही बंद रहा। तब उसे लगा कि पापा कहीं और चले गए हैं, तभी ऐसा हो रहा है, वर्ना वे तुरंत आकर दरवाज़ा खोलते।

उसने अपने पिता रवीन्द्र बाबू को मोबाइल से संपर्क किया, "हलो पापा! कहाँ हैं आप?"

रवीन्द्र बाबू ने कहा, "कौन? संजीव? कहां क्या बात है? किसलिए फोन किया?"

उसकी आवाज़ में शांति थी। वे समझ रहे थे कि संजीव ऑफिस से फोन कर रहा है। यदि वे यह जानते कि वह लौटकर आ गया है और अपार्टमेंट के बाहर खड़ा उनका इंतज़ार कर रहा है तो वे बेचैन हो जाते। उनकी आवाज़ में बेचैनी घुल जाती।

संजीव ने पूछा, "आप कहाँ हैं?"

"मैं? मैं इस गली में स्नैक्स वाली दुकान में समोसे खा रहा हूँ। तुम दोनों के लिए भी लेता आऊंगा।" बड़े इत्मीनान से वे बोले।

"अच्छा लेते आइये। पर अभी मैं घर आ गया हूँ ऑफिस से और बाहर खड़ा आपका इंतज़ार कर रहा हूँ। आप आइये।"

यह सुनते ही रवीन्द्र बाबू की आवाज़ में खुशी घुल गयी। वे बोले, "ओह! तुम आ गए हो? अच्छा, मैं आ रहा हूँ तुरंत।"

ऑफिस से संजीव आ गया है, यह सुनकर उन्हें बड़ा अच्छा लगता था। बच्चों का ऑफिस से लौटकर घर में आना उन्हें वैसे ही लगता था जैसे स्कूल की छुट्टी हुई हो और घर ले जाने के लिए आये अभिभावक गेट पर खड़े दिखायी दें।

मुँह के समोसों को वे जल्दी-जल्दी निगलने लगे थे। दुकानदार से बोले, "अच्छा, चार समोसे और पैक कर दो।"

एक हाथ से पेपर प्लेट थामे हुए दूसरे हाथ से जेब में बटुआ टटोलने लगे थे। लेकिन बटुआ साथ लेकर चले ही नहीं थे तो मिलता कहाँ से? उँगलियों में कुछ खुदरे नोट ज़रूर आ गये जिन्हें दुकानदार की ओर बढ़ाते हुए वे बोले, "मैं तो अपना पर्स घर पर ही भूल आया। खैर, जेब में पैसे हैं।"

दुकानदार ने नोट रखकर कुछ सिक्के उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "पैसे फिर कभी मिल जाते।"

रेजगारी को जेब के हवाले करते हुए उन्होंने प्लेट कचरे के डब्बे के हवाले किया। नैपकिन से हाथ पोंछते हुए समोसों का पैकेट उठाया और चल पड़े। चलते हुए उन्हें याद आया कि वे पानी पीना तो भूल ही गए! खैर, कोई बात नहीं। घर जाकर पी लेंगे। अभी संजीव थका-मांदा बाहर खड़ा होगा। वे सोचने लगे कि यह स्थिति बड़ी खराब होती है कि कोई घर पहुंचे और घर का ताला बंद मिले। पास में चाभी नहीं।

संजीव ने एक चाभी सुरुचि को दे रखी थी और एक उसके पास रहती थी। पापा के आने पर अपनी वाली चाभी पापा को दे दी। सुरुचि उससे पहले ऑफिस से लौटती थी। अतः उसके पास एक चाभी होना ज्यादा ज़रूरी था ताकि उसे बाहर न इंतज़ार करना पड़े।

रवीन्द्र बाबू जब वहाँ पहुंचे तो देखा संजीव बैग लिए खड़ा है। उन्होंने अपनी जेब से चाभी निकाली। संजीव ने चाभी उनके हाथ से ले ली। जानता था कि उन्हें चाभी घुमाने में देर लगेगी। दरवाज़ा खोलकर संजीव ने अपना बैग सोफे पर डाला और फ्रिज से पानी की एक बोतल लेकर सोफे पर बैठ गया।

रवीन्द्र बाबू ममता-भरी आँखों से देखे थे। बेचारे बच्चे! बारह घंटे बहुराष्ट्रीय कंपनी में खटते हैं तब मोटी

तनखाह घर में आती है। न खटें तो महानगर में एक कमरा न नसीब हो।

उन्होंने पूछा ,, "चाय पियोगे ? बना दूँ ?"

संजीव ने कहा , "नहीं , ऑफिस में काफी पीकर आ रहा हूँ । और न भी पीकर आया होता तो आप बनाते मेरे लिए ? सुरुचि तो आ ही रही होगी। "

करीब घंटे -भर बाद सुरुचि आयी। उसी तरह थकी हुई। वह अपने कमरे से लगे वाश- रूम में चली गयी हाथ-मुँह धोने। उसके बाद उसने चाय बनायी। संजीव और रवीन्द्र बाबू के आगे एक-एक कप रखने के बाद वह स्वयं एक कप लेकर बैठ गयी। संजीव अपने लैप टॉप पर व्यस्त हो गया।

रवीन्द्र बाबू ने कहा , "अब ऑफिस में कम काम था जो यहाँ भी आकर लैप टॉप खोलकर बैठ गए ? "

संजीव ने कहा , "पापा, आप नहीं समझियेगा। इससे सारी बातें ही हल हो जाती हैं। घर बैठे - बैठे। "

यह सुनकर वे कुछ अचरज और प्रशंशा -भरी दृष्टि से संजीव को देखने लगे थे। सुरुचि धीमी आवाज़ में टी वी देख रही थी। थोड़ी देर बाद उठकर अपने कमरे में चली गयी।

हर शाम का लगभग यही दृश्य होता और सवेरे नौ बजे तक दोनों ही ऑफिस निकल जाते। घर में बच जाते वे अकेले। पिंजरे में बंद मैना की तरह उन्हें छटपटाहट होने लगती। कभी पेपर पढ़ते ,कभी पत्रिका , तो कभी टी वी देखते। इन सबसे ऊबते तो सो जाते। यहाँ न कोई जान - पहचान थी ,न कोई अपना दोस्त था। वे जब पहली बार इस महानगर में आये थे तो संजीव और सुरुचि के जाने के डेढ़ घंटे बाद द्वार कि घंटी बजी थी । रवीन्द्र बाबू खूब खुश हुए कि चलो कोई आया। शायद पडोसी हो। पर पडोसी क्या दूसरे लोक में रह रहे थे ?उनका अपार्टमेंट भी दिन -भर बंद रहता । शाम को दोनों मियां - बीवी आते तो घर खुलता। यह सब रवीन्द्र बाबू को पता न था। उन्होंने खुश होकर दरवाज़ा खोला था। सामने खड़ा था नेपाली रसोइया। हाँ , उन्हें याद आया जाते हुए सुरुचि बोल गयी थी , " पापा, खाना बनाने के लिए नेपाली कुक आएगा। आपकी जो इच्छा हो बनवा लीजियेगा। चाय- काफी भी बना देगा।"

वे अभी नेपाली को देख कर मुस्कुरा उठे थे। बोले , " तो तुम प्रीतम हो ? "

" हाँ सा'ब। " उसने कहा था।

" ठीक है , आओ। मुझे सुरुचि ने तुम्हारे बारे बताया था । "

" आप भैया के पापा हो न ? "

" हाँ " रवीन्द्र बाबू ने कहा ।

" मुझे मालूम है। भाभी जी बोला था कि आप आने वाला है।" यह कहते हुए वह भीतर पूरे अधिकार के साथ चला आया। फिर उसने पूछा , " क्या खाओगे आप ?"

"जो रोज़ सबके लोए बनाते हो वही बना दो। " वे बोले।

इतना सुनने के बाद वह अपने काम में मशगूल हो गया। वे ड्राइंग रूम में बैठे सुनते रहे प्रेशर कुकर की आवाज़ , छलनी के कढ़ाई में चलने की आवाज़ , सिंक से पानी गिरने की आवाज़। बीस मिनट में खाना बनकर डायनिंग टेबल पर लग गया। नेपाली बाहर जाते हुए बोला , " दरवाज़ा बंद कर लो साब । "

रवींद्र बाबू कुछ भौंचक - से उसे जाते हुए उसकी पीठ को देखते रहे. फिर कुछ मुरझा -से गए। वाह ! आया भी और गया भी।

उसके बाद यहाँ रहते हुए उन्होंने यहाँ रहने का ढंग सीख लिया था। मोबाइल पर नंबर दबा कर दोस्तों से बात करने लगते। देर तक बात करते रहते । जब तक बातें होती रहतीं उन्हें लगता कि वे एक चलती- फिरती , जीती- जागती दुनिया से जुड़े हुए हैं। वर्ना इस शहर के समुद्र में एक भी चेहरा पहचाना नज़र न आता और तब वे अपने को एक खोयी हुई नाव से ज्यादा कुछ न समझते।

उन्हें अकेले बस या रेल में सफ़र करना बुरा नहीं लगता था। कभी- कभी तो बहुत अच्छा भी लगा था। भीड़ - भाड़ से मुक्त। लेकिन ज़िन्दगी की रेल में अकेले सफ़र

करना कैसा लगता है , इसे उनसे बेहतर कौन बता सकता था ? जीवन संगिनी को गुज़रे एक अरसा हो गया था। पत्नी की ज़रूरत जितनी पहले थी , आज उससे कम नहीं थी। इस उम्र में जब शरीर साथ नहीं दे रहा था , उन्हें लगता था कि पत्नी की ज़रूरत अभी ही ज्यादा थी। कमज़ोर होता तन ..... इसके साथ मन भी। एक सूखे पत्ते की तरह यहाँ से वहाँ ...। जिधर उड़ा ले जाए हवा ...। कोई डाल तो है नहीं कि चिपके रहेंगे ?

इसलिए यहाँ भी वे अपने परिचित बनाने की कोशिश में लग गए थे। शुरु - शुरु में सिक्कुरीटी गार्ड , सब्ज़ी वाले और पास के दुकानदारों से मुस्कुरा कर बातें करने लगे थे। इस तरह वे भी उन्हें पहचानने लगे थे। उन्हें अच्छा लगता जब कोई आँखों में पहचान लिये उनकी ओर मुस्कुरा कर देखता। घर में सब्ज़ी ले आने का काम उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ले लिया था। इसी बहाने कुछ घूमना - फिरना , लोगों से बातें करना हो जायेगा। कुछ सुकून मिल जाता।

फिर भी समय न कटता था। खाना बन गया। कपड़े धुल गये। उनका और घर का सारा काम खत्म है। खाना टेबल पर लगा हुआ है। खाएं , न खाएं। खाने की इच्छा भी नहीं होती थी। लम्बे पसरे हुए समय को टुकड़ों - टुकड़ों में काटने की कोशिश जी-जान से जारी रहती। ठीक है , अब गमलों में पानी वहीं पटा दिया करेंगे। उनका भी समय कट जायेगा।

उन्होंने सुरुचि से कहा , "बेटा , इन गमलों को मैं ही सींच दिया करूँगा। जब तक मैं हूँ तुम बाई को मना कर दो। "

सुरुचि , बोली , " पापा जी ! आप सींचेंगे तो बाई की आदत खराब हो जायेगी। गमले सीचना उसका काम है। "

यह सुनकर रवींद्र बाबू चुप हो गए थे। ठीक ही तो कह रही थी वह ! अब दो दिनों के लिए बाई की आदत क्यों बिगाड़े वे ?

अभी वे अकेले बैठे हुए थे। कमरे के बाहर लगे गमलों की और उनका ध्यान गया। इन्हे देख कर पता ही नहीं चलता कि क्या मौसम है ? सभी मौसमों में एक ही जैसा खिलते रहते हैं। क्या जाड़ा , क्या गर्मी , क्या बरसात ? वे उठकर फूलों को निहारने लगे थे। ..... नहीं , उनका सोचना सही नहीं था। हाँ, अभी वसंत है। कुछ पौधों के तनों से सुआपंखी कोंपलें फूट रही हैं। अपने अकेलेपन में भी वे मुस्कुराने लगे थे। उन्होंने अपना चश्मा ठीक किया था। वाह ! कुदरत का करिश्मा। फूलों को सब पता है। उन्हें मालूम है कि वसंत आ रहा है। इस महानगर को मालूम हो या न हो। काम और जाम को फर्क पड़े या नहीं पड़े। पर ये कह रहे हैं कुछ। सुनता भी कौन है ?

उन्होंने उन पौधों से कहा , " तुम बोल रहे हो मैं सुन रहा हूँ। मुझे भी मालूम है मेरे दोस्त !"

अचानक उन्हें लगा जैसे वे कितने सारे नन्हे - मुन्नों से घिरे हुए हैं। छोटे - छोटे कितने बच्चे हैं उनके इर्द-गिर्द ! उनकी बाहें हैं --- बाहें नहीं पंख हैं। हरे - हरे पंख ! वे सब दूढ़ रहे हैं आकाश , हवा , उजाला। वे खुद अपने को भी तितली जैसा हल्का महसूस करने लगे थे। उनकी सांस हल्की हो आयी थी। वे बैठे देखते रहे सामने। यद्यपि आँखों के सामने ऊंची - ऊंची दीवारें थीं , फिर भी इस बालकनी में थोड़ा जीवन था , थोड़ी संजीवनी।

अब उनके बैठने की प्रिय जगह वही बालकनी हो गयी थी। वे रोज़ एक- एक पौधे को ध्यान से देखते। वे अंखुए हर दिन थोड़े बढे हुए लगते। एक फुंसी की तरह उगा हुआ अँखुआ कई-कई पत्तियों में खुलने लगा था। देखते -ही देखते कितनी- कितनी धानी पत्तियाँ निकल आयीं थीं। पौधे और झबरीले हो गए थे।

उस दिन वे शाम को सब्ज़ी लेकर लौटे तो मन न होते हुए भी टी वी खोल दी। अचानक उन्हें अपने जबड़ों में दर्द

महसूस हुआ। सोचा कि कम हो जायेगा, लेकिन यह टीसता चला गया और इतना बढ़ गया कि दवा की ज़रूरत महसूस होने लगी। फोन करके संजीव को कहना चाहा कि लौटते हुए दवा लेता आये। पर उसे आने में अभी देर थी। दाँत का दर्द बर्दाश्त से बाहर हो रहा था। संजीव के आने तक वे रुक नहीं सकते थे। अब इस स्थिति में भी उन्हें खुद ही जाना पड़ेगा। और दूसरा है ही कौन ?

अतः वे चल दिए अपनी दवा लाने नज़दीक की ही दुकान से। शाम का अँधेरा छा चुका था। सड़क पर न वाहनों की कमी थी, न ही सड़क पर चलने वाले पदयात्रियों की। उसीमें रवीन्द्र बाबू चले जा रहे थे अपने दर्द से दुखी और परेशान। खीझे हुए। उन्हें लग रहा था कि न जाने किस दुनिया में आ गए हैं। गाड़ियों की चमकती हेड लाइट की रोशनी से उनकी आँखें चौंधिया जा रही थीं। सड़क पर करने के लिए वे किनारे खड़े इंतज़ार कर रहे थे। मन कह रहा था "मारो गोली ऐसे शहर को। इतनी गाड़ियाँ, इतनी भीड़, इतना धुआँ इतना शोर - इससे तो अच्छा अपना कस्बा।" यही सोचते खड़े ही थे कि एक स्कूटर ने उन्हें ठोकर मार दी। वे गिर पड़े। फिर क्या हुआ उन्हें नहीं मालूम।

आँखें खुलीं तो वे अस्पताल के बेड पर थे। बगल में खड़ी नर्स इंजेक्शन लगाने की तैयारी कर रही थी। संजीव और सुरुचि भी पास थे। उनको होश में आया देख कर संजीव ने पूछा, "कैसे हैं पापा आप?"

रवीन्द्र बाबू ने कहा, "दाँत में तो दर्द था ही, अब तो पैर में भी भयंकर दर्द हो रहा है।" संजीव ने कहा, "पापा आप मुझे फोन करते। मैं लौटते हुए आपकी दवा ले आता।" रवीन्द्र बाबू ने कहा, "तब तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था, बेटा!" नर्स सुई लगाकर चली गयी।

तब संजीव ने कहा, "अब आपको दर्द से आराम मिल जायेगा।"

फिर दो पलों बाद उसने कहा, "यह तो गनीमत है कि आपके पैरों की हड्डी नहीं टूटी। यदि आज आपको कुछ हो जाता तो? या यह घटना घर से दूर घटी होती तो क्या होता? मुझे सिक्युरिटी गार्ड ने फोन किया। यह तो कहिये कि उस भीड़ में एक दुकानदार ने आपको पहचान लिया और फिर उसने गार्ड से कहा।"

रवीन्द्र बाबू ने किसी-किसी तरह करके एक महीना और बिताया। फिर एक दिन उन्होंने झिझकते हुए संजीव से कहा, "बेटा, बहुत दिन हो गए यहाँ रहते हुए। अब मैं वापस जाना चाहता हूँ। मेरा टिकट बुक करवा दो।"

संजीव बोला, "क्या हुआ पापा? यहाँ आपको कोई तकलीफ है? अभी रहिये कुछ दिन और।"

इस पर उन्होंने कहा, "ठीक है, तो अगले सप्ताह का टिकट बुक करवा दो।"

संजीव ने अगले सप्ताह के लिए हवाई टिकट बुक कर दी।

\* \* \* \* \*

बैगेज क्लेम से अपना सामान लेकर लुढ़काते हुए रवीन्द्र बाबू बाहर आये। प्रतीक्षा करने वालों की भीड़ में एक पहचाना चेहरा दिखाई पड़ा - अनिल झाँवर! वह वहाँ खड़ा था इंतज़ार करता हुआ। आगे आकर उसने उनके हाथों से ट्रॉली ले ली।

गाडी पर बैठते ही रवींद्र बाबू ने अपना सर पीछे सीट से टिका दिया। कार पूरी रफ्तार से चल पड़ी। उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं। शहर पार कर कार अपनी मंज़िल की ओर मुड़ गयी। अभी घर और उनके बीच दो घंटों का फासला था। सड़क की दोनों ओर धूल में नहाये पेड़-पौधे खड़े थे। खुली हवा आई और उनके बालों को मुंह पर बिखेर कर निकल गयी। महुआ की महक आयी और उनके नथुनों से उतरकर प्राणों में समा गयी।

कमरे में दाखिल होते ही सन्नाटे ने उनकेलिए अपनी बाँहें फैला दी। उन्होंने सन्नाटे को अपने आलिंगन में भर लिया।

बाहों से छूटते ही सन्नाटे ने कहा, "मैंने तुम्हे बहुत मिस किया, रवींद्र!"

"मैंने भी तुम्हे बहुत मिस किया।"

\*\*\*\*\*

---

कृपया रचनाकार को मेल भेज कर अपने विचारों से अवगत करायें

